Introduction

"काव्येषु नाटकं रम्यम्" नाटक के संदर्भ में यह उक्ति बहुत समय से चली आ रही है, जो उसकी श्रेष्ठता और महत्ता को स्थापित करती है । वस्तुत: नाट्य कला इतनी शक्ति सम्पन्न है कि उसमें अनेक ललित कलाओं का समाहार हो जाता है । संगीत, नृत्य, चित्र सभी कुछ इसमें अन्तर्मुक्त हैं । नाट्य विधा समाज से प्रत्यक्ष रूप में जुड़ती है और जन सामान्य को अपने में जोड़ती है । किसी मार्मिक घटना अथवा संदर्भ को प्रस्तुत करके यह समाज को प्रेरित करती है, संचालित करती है । एक सफल नाट्यकर्मी जैसा सामाजिक को चाहता है वैसा रचता है, बनाता है ------"यथास्मै रोचते विश्वं तथैवाऽमि परिवर्तते " ।

इस रचना प्रक्रिया में जो सर्वाधिक शक्तिशाली तत्व है, वह है नाट्य सृष्टा की "चेतना" । यह "चेतना" ही संसार को घुमाती है । समय समय पर इस "चेतना" में परिवर्तन भी होता है । इसका रूप बदलता है । कभी यह वैयक्तिक धरातल पर प्रेरित करती है, कभी सामाजिक स्तर पर परिवर्तन लाती है, कभी राजनैतिक मंच पर यह जोड़-तोड़ करती है । अर्थात् अनेक दिशाओं में यह सक्रिय रहती है । विगत दशकों में इस चेतना ने हिन्दी के नाट्य लेखकों तथा अन्य रंगकर्मियों को अविर्भूत कर रखा है । इनकी "वैयक्तिक चेतना" ने हमारे जन जीवन और हमारे व्यक्तिगत जीवन के जो चित्र प्रस्तुत किये हैं, वो झकझोर देने वाले हैं । समकालीन हिन्दी नाटकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि वह बदलते जीवन मूल्यों, संकीर्ण होती "वैयक्तिक चेतना" के बीच अभिमन्यु बने आधुनिक व्यक्ति की यंत्रणा को अभिव्यक्त करने में पूर्णत: समक्ष है । हिन्दी के साठोत्तरी नाटकों को पढ़ते समय मेरे मन में बार बार यह प्रश्न कौंध जाता रहा कि ये हमारे नाटक पूर्ववर्ती नाटकों से केवल कथ्य और शिल्प के धरातल पर ही भिन्न नहीं है, वरन् इनमें

कोई अन्तःवर्ती विचारधारा भी है जो हमारी जीवन की विद्रूपताओं को, हमारी रूढ़ मान्यताओं को, हमारी जर्जर स्थापनाओं को बेनकाब करती हैं । इन नाटकों ने मानवीय संबंधों की अर्थहीनता, खोखलेपन, तनाव ग्रस्तता तथा अजनबी को अपना कथ्य बनाया है । आधुनिक व्यक्ति की व्यथा को संवाद दिये हैं । इतिहास और पुराण को समसामयिक परिवेश में पुनः परखा है । दिल्ली में रहकर यदा -कदा नाट्य प्रेक्षागृहों में अनेक नाटकों को अभिनीत होते देखकर भी यही प्रश्न मन को कुरेदता रहा ।

समसामयिक "भौतिकवादी युग मे" वैयक्तिक चेतना" का परिवर्तित रूप उभरकर प्रकट हो रहा है, जिसने व्यक्ति के परम्परागत जीवन दर्शन तथा चिन्तन को प्रत्यक्षतः प्रभावित किया है जिसके परिणाम दो तरफे हो रहे हैं । एक ओर युगानुरूप नवीन और स्वस्थ चिन्तन उभरे हैं, जिनके आलोक में जीर्ण-शीर्ण खण्डित मान्यताओं, अंधविश्वासों तथा विकासोन्मुख व्यक्ति के पैरों में बेड़ियाँ बनी सामाजिक रूढ़ियों का अंधकार दूर हो रहा है । इस प्रकार ये विचारधाराएं समाज के दूषित वातावरण को स्वच्छ बनाने में कार्यरत हैं, तो दूसरी ओर अति बौद्धिकता, पाश्चात्य अंधानुकरण आदि के तेज प्रकाश में सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक मूल्य दिवस के चांद बन गये हैं, जो विद्यमान होते हुए भी लुप्तप्राय से हैं । आदर्श व नैतिकता का सम्बल त्याग आधुनिक व्यक्ति काल के सागर में थपेड़े खा रहा है । इस आधुनिकता से "नारी" भी वंचित नहीं रही है । वह अभी अभी खुले प्रांगण में आई है, दिशा का बोध उसे अभी नहीं है फिर भी नाक की सीध में दौड़ रही है । इस दौड़ में बहुत कुछ प्राप्त कर रही है तो बहुत कुछ खो भी रही है । नारी के इस अर्जन-विसर्जन का, व्यक्ति की टूटी, थकित कुंठित मनः-स्थिति पर से पर्दा उठाने का प्रयास साठोत्तरी नाटकों में किया गया है ।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में सन् 1960 से सन् 1980 के मध्य लिखे गये नाटकों में "वैयक्तिक चेतना" और "पारिवारिक जीवन" की वस्तुस्थिति को खोजने का प्रयास किया गया है । यह स्पष्ट है कि स्वतंत्रता के बाद को विशेषत: सन् 1960 के बाद का काल कुछ अलग ढंग का है । इस काल में "वैयक्तिक चेतना" का आदर्शोन्मुखी स्वरूप इतनी तीव्रता से बदला है और जितनी तेजी से "यथार्थ" व "भौतिक चेतना" का विकास हुआ है, उतनी तेजी से पहले नहीं हुआ । "यथार्थवादी चेतना" के विकासोन्मुख होने से भारतीय आदर्श व मूल्य कमजोर पड़ते जा रहे हैं । भारतीय पुरूष प्रधान समाज में पुरूष के महत्व को हमेशा से स्वीकारा गया है, उसके अस्तित्व की महत्ता दी गई है जबकि "नारी के अस्तित्व" व स्वतंत्रता को समाज के लिए घातक मान उसे नकारा गया है । यही दशा समाज में सबसे अधिक दयनीय अछूत वर्ग की रही है । आधुनिक "वैयक्तिक चेतना" की प्रेरक शक्ति ने इन्हीं दो वर्गो - नारी वर्ग व अछूत वर्ग" को संजीवनी देकर उन्हें चेतनशील बनाया है । स्व अस्तित्व, स्वाभिमान तथा स्वतंत्रता के भाव बोध से जागृत नारी वर्ग की आज क्या स्थिति है? , उसकी जागरूकता ने दाम्पत्य जीवन, पारिवारिक जीवन तथा सामाजिक मान्यताओं को कहाँ तक प्रभावित किया है ? , अछूत वर्ग के अधिकार बोध ने जातीय व्यवस्था के प्रतिमानों को किन हालातों में पहुँचा दिया है ? तथा अब समाज में इस वर्ग की क्या स्थिति है ? इन्हीं तथ्यों का आकलन प्रस्तुत शोध विषय में किया गया है । इसके अतिरिक्त आधुनिक "वैयक्तिक चेतना" ने व्यक्ति की मानसिकता को किस सीमा तक प्रभावित किया है ? और उसका सामाजिक, पारिवारिक राजनैतिक तथा आर्थिक पक्षों पर क्या प्रभाव पड़ा है ? इस गुत्थी को भी सुलझाने का प्रयास भी किया गया है ।

"शोध प्रबंध" में "वैयक्तिक चेतना" के स्वरूप को समझने के लिए प्रबंध को कई अध्यायों और उसमें भी कई खण्डों व उप-खण्डों द्वारा विभक्त करके इस चेतना के स्वरूपों व व्यापक प्रभावों को गहराई एवं बारीकी से खोजने की चेष्टा की गई है । अत: विश्लेषण की सरलता हेतु उक्त शोध ग्रन्थ को सात अध्यायों में विभाजित किया गया है । प्रथम अध्याय में "वैयक्तिक चेतना" के सैद्धांतिक पक्ष को समझने का प्रयास किया गया है । इस अध्याय में "चेतना" के धातुगत अर्थ, कोषगत अर्थ तथा विभिन्न विद्वानों के मतों का अध्ययन करते हुए "वैयक्तिक चेतना" के स्वरूप और साहित्य में उसके प्रतिफलन का विवेचन प्रस्तुत किया है। तत्पश्चात् भारतीय व पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण बताते हुए "वैयक्तिक चेतना" को - आदर्श चेतना, यथार्थ चेतना, व्यावहारिक चेतना तथा भौतिक चेतना - इन वर्गों में विभक्त किया गया है । तदनन्तर वैयक्तिक चेतना ने पारिवारिक जीवन पर अपना कौन सा रंग बिखेरा है - इस तथ्य का विश्लेषण किया है । अध्याय के अंत में मूल्यांकन के रूप में समकालीन परिवेश में "वैयक्तिक चेतना" के महत्व को प्रतिपादित किया गया है ।

द्वितीय अध्याय में पृष्ठभूमि के अन्तर्गत "वैयक्तिक चेतना" द्वारा भारतेन्दु युग से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति तक के काल में देखे गये विभिन्न उतार-चढ़ावों का वर्णन किया गया है । "पूर्वयुगीन चेतना" में स्वतंत्रता प्राप्ति से सन् 1960 तक के बीच, सन् 1947 तथा "युगीन चेतना" में सन् 1960 से 1980 तक की परिस्थितियों के बीच-उक्त वर्गीकृत चेतनाओं की सामर्थ्य व सीमाओं तथा प्रभावों का विवेचन किया है । तदनन्तर आधुनिक वैयक्तिक चेतना को प्रभावित करने वाले विभिन्न

पक्षों, बौद्धिकता, पाश्चात्य प्रभाव, आधुनिक शिक्षा प्रणाली, राजनैतिक परिवेश, आर्थिक व्यवस्था तथा यातायात आदि का चित्रण करते हुए प्रतिक्रिया स्वरूप "वैयक्तिक चेतना" से प्रभावित जीवन के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित किया है । इस वैयक्तिक चेतना ने व्यक्ति की मानसिकता, नैतिकता के मानदण्डों व स्वच्छंद यौन वृत्ति, पर अपना गहरा प्रभाव जमाया है । पारिवारिक पक्ष के अन्तर्गत पारिवारिक संबंधों की स्थिति, परस्पर भाई-बहनों तथा अन्य कौटुम्बिक संबंध, स्वच्छंद यौन वृत्ति से बनते-बिगड़ते परिवार, विवाह के प्रति बदलता दृष्टिकोण तथा जातीय के नये बिन्दुओं - आदि पर प्रकाश डाला गया है । राजनैतिक व आर्थिक पहलुओं का भी "वैयक्तिक चेतना" के परिपेक्ष्य में अध्ययन किया गया है ।

तृतीय अध्याय में कालक्रम के आधार पर आलोच्यकालीन नाट्य कृतियों के माध्यम से "वैयक्तिक चेतना" की स्थिति को समझने का प्रयत्न किया गया है, और इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सका कि सन् 1960 से सन् 1970 तक की नाट्य कृतियों में "आदर्श चेतना" और आदर्श मिश्रित व्यावहारिक चेतना की ओर झुकाव दृष्टिगत होता है। तद्युगीन नाटककार समाज का चित्र चित्रित करने में आदर्श चेतना के रंग का अधिक प्रयोग कर रहा था, जबकि सन् 1970 से 1980 तक की कृतियों में "यथार्थ चेतना" और "भौतिक चेतना" अधिक परिलक्षित हो रही है । नाटककार घोर यथार्थवादी शैली में नग्न यथार्थ को प्रस्तुत करने में अपने दायित्व की पूर्ति समझ रहा है । यद्यपि अपवाद स्वरूप कुछ कृतियाँ अवश्य मिल जाती हैं, लेकिन उक्त तथ्य की सत्यता को नकारा नहीं जा सकता ।

"नाट्य शिल्प और वैयक्तिक चेतना" पर आधारित चतुर्थ अध्याय में रंगमंच पर दृश्यमान होती वैयक्तिक चेतना को प्रस्तुत किया गया है । नाटककार रंगमंचीय उपकरणों-दृश्यविधानों, रंगदीपन, ध्वनि मंचीय प्रतीक योजना के माध्यम से किस प्रकार वैयक्तिक चेतना को व्यक्त करता है तथा विकसित होती "वैयक्तिक चेतना" ने इसको कितना प्रभावित किया है । - इस तथ्य का विश्लेषण किया गया है ।

पंचम अध्याय में नाटकों के परिपेक्ष्य में "वैयक्तिक चेतना" से सम्पृक्त व्यक्ति की मन:स्थितियों का चित्रण किया गया है । विभिन्न समसामयिक परिस्थितियों से निरन्तर उग्र होती बौद्धिकता की उष्मा ने उसके चिन्तन में विद्यमान नैतिकता व आदर्श की हरियाली को शुष्क बना दिया है । नारी भी इस प्रवृत्ति से वंचित नहीं रही । परिणामत: स्वच्छंद यौन वृत्ति ने व्यक्ति को मूल्य व मर्यादा की धरती से उखाड कर जटिलताओं व विसंगतियों की झाड़ी में फेंक दिया है । क्षत-विक्षत मन:स्थिति लिए व्यक्ति समाज की परम्पराओं व मान्यताओं से विमुख होने लगा । जिसका प्रभाव व्यक्ति के आचरण व व्यवहार पर स्पष्टत: परिलक्षित होने लगा है । व्यक्ति समाज में अपने को अजनबी, एकाकी अनुभव कर आत्मकेन्द्रित होता जा रहा है । समाज की प्रत्येक मान्यता व धारणा पर प्रश्नसूचक चिन्ह लगाकर उसकी जांच पड़ताल करने में संलग्न है । व्यक्ति के इस नकारात्मक दृष्टिकोण का चित्रण इस अध्याय में किया गया है ।

नाटकों के परिपेक्ष्य में ही "पारिवारिक जीवन" का "विश्लेषण" षष्ठ अध्याय में किया गया है । "वैयक्तिक चेतना" के कारण टूटते संयुक्त परिवारों और साथ साथ उसकी चपेट में आ रहे लघु परिवारों

का चित्रण करते हुए विवाह व अन्य सामाजिक संस्कारों के बदलते स्वरूप को उजागर किया गया है । तत्पश्चात् बिखरते पारिवारिक जीवन का चित्रण करते हुए टूटते जातिगत प्रतिमानों व रीति-रिवाजों की स्थिति को उजागर किया है, और अंत में इस निष्कर्षात्मक बिन्दुओं पर पहुंचा जा सका कि "व्यक्तिवादी" तथा अहम्वादी" प्रवृत्तियों द्वारा प्रेरित "वैयक्तिक चेतना" ने पारिवारिक जीवन व दाम्पत्य जीवन को प्रभावित कर उस पर आधारित सामाजिक मानदण्डों, रीति-रिवाजों तथा नैतिक-धार्मिक मान्यताओं को धूमिल कर दिया है । तीव्र होती काम-कुंठा ने दाम्पत्य जीवन को खोखला कर दिया है । आधे-अधूरे पति पत्नी पूर्णता की तलाश में घर से बाहर ताक-झांक करने लगे । शारीरिक पवित्रता, शील तथा मर्यादा का ढांचा चरमरा कर टूट रहा है । समसामयिक युग में तीव्र होती इस स्वच्छंद यौन वृत्ति ने पारिवारिक जीवन की सुख, शान्ति तथा स्नेह को लील लिया है । भाई-बहन के संबंध अमर्यादित व अशिष्ट होने लगे हैं। भारतीय संस्कारों व परम्पराओं के प्रति नया चिन्तन उभर रहा है ।

आधुनिक युग की परिवर्तित "वैयक्तिक चेतना" ने स्वतंत्र भारत की राजनीति और आर्थिक प्रणाली को भी अपने प्रभाव से अछूता नहीं रखा । "सप्तम् अध्याय" में स्वतंत्रता पूर्व की राजनीति और स्वा-तंत्र्योत्तर राजनीति के मूलभूत अन्तरों या कहें वस्तुस्थिति को उजागर करते हुए चुनाव प्रणाली व दलगत नीति की समकालीन परिवेश में उपयोगिता §1§ को स्पष्ट किया गया है । समाज को सुदृढ़ रखनेवाले "अर्थतंत्र" का विवेचन भी प्रस्तुत अध्याय में किया गया है । आधुनिक युग में तीव्र होती आर्थिक विषमता तथा उससे विकसित होती वर्ग

संघर्ष की भावना, मँहगाई,बेरोज़गारी तथा निर्धनता से बिखरती चेतना और पाश्चात्य प्रभाव के कारण भौतिकता के प्रति बढ़ते आकर्षण को प्रस्तुत किया गया है ।

अन्त में उपसंहार के रूप में समस्त अध्ययन के सार को प्रस्तुत कर शोधार्थिनी ने नाटक और "वैयक्तिक चेतना" के संदर्भ में नई दृष्टि देने का विनम्र प्रयास किया है । प्रस्तुत शोध प्रबंध पर कार्य करते समय यह देखने में आया है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में, यद्यपि नाटकों का सृजन व प्रगति संख्या और शिल्प विधान की दृष्टि से अत्यधिक संतोषजनक है । और निरन्तर नित नये प्रयोग हो रहे हैं, तथापि अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षाकृत इस विधा में शोध ग्रन्थ का प्राय: अभाव परि-लक्षित हुआ है । आज जब समाज के प्रत्येक क्षेत्र में नूतन जागृति और नवीन चिन्तन अपना प्रभाव जमा रहे हैं । "वैयक्तिक चेतना" व्यक्ति के महत्त्व का पूनर्मल्यांकन कर उसे प्रतिष्ठित कर समाज को नयी दिशा का बोध करा रही है , ऐसे समय में कतिपय विद्वान साहित्य में प्रतिबिंबित "वैयक्तिक चेतना" की वस्तुस्थिति अथवा उसके प्रभाव को जानने में संलग्न है । शोध कार्य के दौरान - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और "व्यक्ति चेतना" (डा0 पुरूषोत्तम दुबे) " नई कविता और वैयक्तिक चेतना" (डा0 अवध नारायण त्रिपाठी) - आदि कुछ शोध ग्रन्थ दृष्टि पटल के सामने से गुजरे हैं । लेकिन समकालीन नाटकों में "वैयक्तिक चेतना" को खोजने का प्रयास अभी तक नहीं हुआ था । यदि इस दिशा में प्रस्तुत शोध प्रबन्ध किंचित मात्र भी अभावपूर्ति करने में सक्षम हो सकेगा तो इसी में इसकी सार्थकता सिद्ध होगी । इस प्रबंध को आकार प्रदान करने हेतु अनेक पुस्तकों व विद्वानों के चिन्तन का लाभ उठाया गया है,तथापि उसका प्रस्तुतीकरण नितान्त मौलिक और निजी है ।

प्रस्तुत शोध प्रबंध को पूर्ण करने में सर्वप्रथम मैं इस कार्य के निर्देशक परम श्रद्धेय गुरूवर डा० दयाशंकर शुक्ल जी, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, के प्रति आभार व्यक्त करना अपना पुनीत कर्तव्य समझती हूँ ,जिनके पाँडित्यपूर्ण निर्देशन में न केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई, अपितु अपार स्नेह भी मिला । यदि उनका प्रखराभा युक्त मार्गदर्शन एवं प्रोत्साहन मुझे न मिल पाता तो यह दुष्कर कार्य जल में खींची गई रेखाओं के समान व्यर्थ हो जाता । वे पूज्य हैं, उनके प्रति सदैव श्रद्धा बनी रहेगी । पूज्यनीय माता श्रीमती विमला देवी और पिता श्री मदन मोहन शर्मा के प्रति कृतज्ञता के शब्द कह कर वाचाल नहीं बनना चाहती जिन्होंने स्वंय मुझे बोलना सिखाया । अत: मेरी मूकता ही उनके प्रति हृदय से आभार व्यक्त करती है । विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय के अधिकारियों के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ, जिनके आर्थिक सहयोग द्वारा यह कार्य निर्विघ्न एवं निश्चिन्तता से किया जा सका ।

हिन्दी जगत के सुविख्यात नाटककार डा० लक्ष्मीनारायण लाल, श्री रमेश बक्षी तथा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के तत्कालीन निर्देशक एवं नाटककार श्री ब्रजमोहन शाह और हिन्दी साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठित विद्वान आलोचक प्रो० शिवकुमार मिश्र जी के प्रति अनुग्रही हूँ, जिनके समय समय पर मिले मार्गदर्शन और बहुमूल्य विचारों से मैं लाभान्वित हुई और प्रबंध में यत्र-तत्र उपयोग भी किया है । इस कार्य को पूरा करने में सहपाठी - कुमारी लक्ष्मी बेनीवाल तथा

श्री हरिप्रसाद पाण्डेय द्वारा की गई यथोचित सहायता सदैव स्मृति पटल पर अंकित रहेगी ।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ को पूर्ण करने में जिन पुस्तकों व शोध ग्रन्थों से सहायता ली गई है उनके लेखकों, विद्वानों के प्रति भी आभार प्रकट किया जाता है ।

और अन्त में महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय तथा लोक-सभा के पुस्तकालय के उसके सदस्यगण का उनके सहयोग के लिए धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ ।

******